

इकाई 8

भाष्यशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 सामाजिक विज्ञान में पद्धति से संबंधित विवाद
- 8.3 भाष्यशास्त्र के इतिहास का रेखांकन
- 8.4 भाष्यशास्त्र और समाजशास्त्र
- 8.5 दार्शनिक भाष्यशास्त्र
- 8.6 संदेह का भाष्यशास्त्र
- 8.7 दृश्यप्रपंचशास्त्र और भाष्यशास्त्र
- 8.8 निष्कर्ष
- 8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अध्ययन के उद्देश्य

आशा है कि इकाई 8 को पढ़ने के बाद आपके लिए सामाजिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य के निम्नलिखित मुद्दों पर चर्चा करना संभव होगा :

- सामाजिक विज्ञान में पद्धति से जुड़े विवादों में भाष्यशास्त्र का स्थान;
- भाष्यशास्त्र का इतिहास;
- भाष्यशास्त्र और समाजशास्त्र में संबंध;
- परंपरा की व्याख्या करने में अन्वेषक का स्थान;
- भाष्यशास्त्र में स्पष्टीकरणात्मक समझ; तथा
- आलोचनात्मक अथवा गहन व्याख्या।

8.1 प्रस्तावना

पुस्तक 1 के खंड 2 की अंतिम इकाई भाष्यशास्त्र (Hermeneutics) है। खंड 2 सामाजिक अनुसंधान के दार्शनिक आधार से संबद्ध है। जैसा कि इकाई 5 में बताया जा चुका है, इकाई 8 में हमने भाष्यशास्त्र पर विस्तृत चर्चा की है। भाष्यशास्त्र (परंपरा की व्याख्या) सामाजिक यथार्थ को सिलसिलेवार समझने के प्रयास का हिस्सा है। चूंकि समाजशास्त्र की एक पद्धति के रूप में इसका प्रयोग किया जा चुका है, हमें सामाजिक विज्ञान में पद्धति से जुड़े विवादों के संदर्भ में भाष्यशास्त्र का स्थान देखने और समाजशास्त्रीय खोज में इसके महत्व को समझने के लिए इसका इतिहास ढूँढने की आवश्यकता है।

आपको पता लगेगा कि भारत में समाजशास्त्र में किए गए प्रायोगिक अथवा व्यवहारिक भाष्यशास्त्र उपागम (applied hermeneutics approach) का अधिक प्रयोग नहीं किया गया है। किंतु इस उपागम का अनुप्रयोग उन क्षेत्रों में काफी प्रचलित है जहाँ लोगों के जीवन में परंपरा का महत्व होता है। जहाँ भी परंपरा की नई व्याख्या होती है वहाँ भाष्यशास्त्र का अनुप्रयोग आवश्यक हो जाता है। इकाई 8 आपके हाथों में एक नया उपकरण देगी। आशा है अपने शोध में आप इसका उपयोग करने का अवसर मिलेगा।

भाग 8.2 में सामाजिक विज्ञान में शोध पद्धति से जुड़े विवादों का परिचय देने के बाद इकाई के भाग 8.3 और 8.4 में क्रमशः भाष्यशास्त्र के इतिहास को रेखांकित किया गया है और समाजशास्त्र के साथ इसके संबंध को दर्शाया गया है। इकाई के भाग 8.5 में भाष्यशास्त्र संबंधी दार्शनिक विचारों पर चर्चा की गई है। भाग 8.6 में संदेह के भाष्यशास्त्र की चर्चा के बाद भाग 8.7 में प्रतिरूपशास्त्र तथा भाष्यशास्त्र के बीच अंतःसंबंधों के निरूपण उपरांत इकाई का निष्कर्ष दिया गया है।

8.2 सामाजिक विज्ञान में पद्धति से संबंधित विवाद

सामाजिक विज्ञान के दर्शन में, काफ़ी समय से दो मुख्य परंपराओं का वर्चस्व रहा है। इनमें मुख्य अंतर उनमें रहा है वे परंपराएँ जिनके लिए कारणों की खोज के माध्यम से सामाजिक विज्ञान कार्य सामाजिक तथ्यों का स्पष्टीकरण है और वे परंपराएँ जिनके लिए सामाजिक विज्ञान से हमारा आशय सामाजिक क्रिया के अर्थ की व्याख्या और उसकी समझ है। सामाजिक विज्ञान की प्रकृति पर इस विवाद का लंबा इतिहास है जिसके दौरान यह अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है।

जर्मनी में अर्थशास्त्र में 1890 के दशक में प्रयुक्त पद्धतियों पर विवाद था और एक नवशास्त्रीय ऑस्ट्रियाई अर्थशास्त्री कार्ल मेंगर (जीवनकाल 1841-1921) ने इस बात पर बल दिया कि सैद्धांतिक अर्थशास्त्र के सटीक सिद्धांत यांत्रिकी जैसे प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धांतों के समान थे। जर्मनी के युवा आर्थिक इतिहास विद्यापीठ के गुस्ताव श्मोलर (जीवनकाल 1838-1917) ने कार्ल मेंगर का विरोध किया (देखें ब्रायंट 1985)। श्मोलर सोसाइटी ऑफ़ सोशल पॉलिसी का भी सदस्य था जिसकी स्थापना सुधार आंदोलन के रूप में आइज़नक (Eisenach) में 1872 में की गई थी। सोसाइटी ने ठोस राजनीतिक कार्यक्रम कभी नहीं चलाए बल्कि इसने सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में विशिष्ट ठोस समस्याओं पर अनेक अध्ययनों का प्रकाशन किया। इन अध्ययनों के लिए श्मोलर ने मेंगर के निगमनात्मक (deductive) और भाववाचक दृष्टिकोण के स्थान आगमनात्मक, अनुभववादी और ऐतिहासिक दृष्टिकोण का समर्थन किया।

इस बिंदु पर कुछ नवकांटवादी दार्शनिक इस विवाद से जुड़ गए और वह विवाद अर्थशास्त्र की शोध-पद्धति पर विवाद से सामाजिक विज्ञान की प्रकृति पर विवाद में व्यापक रूप में बदल गया (देखिए बॉक्स 8.1) :

बॉक्स 8.1: सामाजिक विज्ञान की शोध-पद्धति पर संघर्ष

हाइडलबर्ग नव-कांटवादी विचारधारा के विडलबैंड (जीवनकाल 1848-1915) ने 1894 के अपने रेक्टर की तरह दिए गए भाषण में विधिपरक प्राकृतिक विज्ञान को भावसूचक मानव विज्ञान से भिन्न बताया (इकाई 1 का कोष्ठक 1.5 भी देखिए)। उसके अनुसार, यह अंतर इन विज्ञानों के अध्ययन का विषय होने के समाज या प्रकृति के कारण नहीं था, बल्कि यह अंतर इन विज्ञानों के विशिष्ट ज्ञानात्मक रुचियों तथा लक्ष्यों के कारण था। प्राकृतिक विज्ञानों के लक्ष्य तथा रुचि तकनीकी होते हैं जबकि मानव विज्ञानों में ज्ञानात्मक रुचि तथा व्यावहारिक लक्ष्य होते हैं।

जर्मनी में सामाजिक विज्ञान की शोध-पद्धति पर एक अन्य महत्वपूर्ण बहस थी जो वैज्ञानिक शोध के मूल्य तथा उद्देश्य पर थी। यह बहस 1903 में आरंभ हुई और एक दशक से अधिक समय तक जारी रही। इस बहस में भाग लेने वाला एक प्रसिद्ध व्यक्ति मैक्स वेबर था। वेबर ने अपने अंदाज़ में बहस की, हालाँकि वह स्वयं को ऐतिहासिक विचारधारा (श्मोलर, विडलबैंड) का वंशज मानता था। उसके लिए, सामाजिक जगत विशिष्ट वस्तुओं तथा

एकाकी संरचनाओं से बना हुआ था। सामाजिक विज्ञान के लिए कारणात्मक विश्लेषण को उसने अनुपयुक्त नहीं माना। सभी सामाजिक क्रियाओं के 'मूल्य महत्व' (value relevance) में विश्वास करते हुए वेबर ने 'व्याख्यात्मक समझ' को सामाजिक विज्ञान के लिए एक आवश्यक पद्धति माना। किंतु वेबर ने यह भी कहा कि कारणात्मक विश्लेषण को इसका पूरक होना चाहिए। वेबर की 'मूल्य महत्व' की श्रेणी में न केवल कारणात्मक विश्लेषण शामिल था बल्कि उसमें मूल्य-मुक्त सामाजिक विज्ञान का समर्थन भी शामिल था और इसी विषय पर उसने बीसवीं सदी के आरंभ में शमोलर से बहस की (वेबर 1949)।

अंत में, जर्मनी में प्रत्यक्षवाद (Positivism) अथवा प्रत्यक्षवादी (Positivist) विवाद पर द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात बहस हुई जो 1961 में ट्युबिंगन में जर्मन सोशोलॉजिकल एसोसिएशन को दिए सर्वप्रथम भाषण में पॉपर ने शुरू की (देखें ब्रायंट 1985 तथा एडोर्नो और अन्य 1976)। पॉपर ने सामाजिक विज्ञान के तर्क पर सत्ताईस प्रतिवेदनों प्रस्तुत किए और एडोर्नो ने उनके उत्तर दिए। यह बहस पॉपर द्वारा समर्थित प्रत्यक्षवादी शोध-पद्धति और एडोर्नो के प्रत्यक्षवाद-विरोधी दृष्टिकोण के बीच होनी थी किंतु पॉपर ने स्वयं को प्रत्यक्षवाद का आलोचक बताकर उस बहस को बेकार बना दिया। इसके बावजूद एडोर्नो (जीवनकाल 1903-1969) की तरफ से हेबरमास के आने से यह विवाद जारी रहा और उसने प्रत्यक्षवादी शोध-पद्धति में पॉपर की प्रत्यक्षवादी शोध-पद्धति पर प्रहार किए तथा हेंस एल्बर्ट (जीवनकाल 1904-1973) द्वारा इस शोध-पद्धति के समर्थन को भी लताड़ा। इस बहस में भी, पहले की तरह, एक पक्ष ने प्राकृतिक विज्ञान से भिन्न, मानव/ऐतिहासिक/सांस्कृतिक/सामाजिक विज्ञानों में अपनी शोध-पद्धति के होने पर जोर दिया। मानव विज्ञानों की इस विशिष्ट शोध-पद्धति को भाष्यशास्त्र (hermeneutics) का नाम दिया गया।

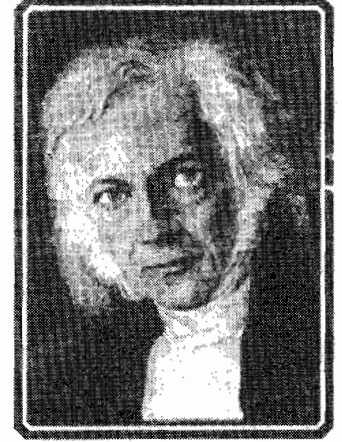
8.3 भाष्यशास्त्र के इतिहास का रेखांकन

एक प्रकार से भाष्यशास्त्र की कहानी इन शोध-पद्धतियों संबंधी विवादों से अधिक पुरानी है। हर्मीस के चरित्र के साथ सामाजिक विज्ञानों की शोध-पद्धति के रूप में हरमिन्यूटिक (भाष्यशास्त्र) की क्या हम इस कहानी को हर्मीस से शुरू करें? प्रश्न है कि यूनानी देवताओं के संदेशों को मनुष्यों तक किसने पहुँचाया? संदेशवाहक के रूप में क्या हर्मीस ने देवताओं के संदेश को मनुष्य के सामने शब्दशः केवल दोहराया अथवा देवताओं की कही बात के 'अर्थ' को मनुष्यों तक पहुँचाने से पहले उन शब्दों को 'समझने' के लिए क्या उसे उनकी 'व्याख्या' करनी पड़ी? (यूनानी शब्द हर्मेनियस का अर्थ भाष्यकार या टीकाकार होता है।)

दैवी बातों के साथ यह संबंध बना रहा और जब व्याख्या के शास्त्र 'भाष्यशास्त्र' का पुनर्निर्माण (Reformation, ईसाई धर्म में सुधार-आंदोलन) के दौरान दोबारा उदय हुआ। पुनर्निर्माण के दौरान अपनी वास्तविकता में भाष्यशास्त्र तब आया जब धार्मिक ग्रंथों को समझने और उनकी व्याख्या करने हेतु प्रोटेस्टेंट सुधारकों को गिरजाघर प्राधिकारी और परंपरा पर कैथोलिक दबाव के विरोध में बाइबिल की व्याख्या के वैकल्पिक सिद्धांतों की दुहाई देनी पड़ी। ईसाई धर्म ग्रंथों के अर्थ के मध्यस्थों के रूप में कार्य करने वालों पर गिरजाघर के दबाव का क्या यह अर्थ था कि ये धार्मिक ग्रंथ अपने आप में अपूर्ण थे और किसी व्यक्ति को उनका अर्थ खोजने के लिए उनके बाहर किसी पादरी के पास जाना पड़ता था? पुनर्निर्माण के दौरान शास्त्रीय ग्रंथों के मिलने से भी मानववादी भाष्यशास्त्र (humanist hermeneutics) का उदय हुआ और बारहवीं शताब्दी में जस्टिनियार्ड (Justinian) विधिक कोड में रुचि ने अपने ही विवेकपूर्ण भाष्यशास्त्र को जन्म दिया। इन सभी तत्वों को एकीकृत करने वाले और आधुनिक भाष्यशास्त्र का जनक कहलाने वाले व्यक्ति का नाम स्वलेयरमैकर (जीवनकाल 1768-1834) था। स्वलेयरमैकर (देखें भाष्यशास्त्र पर स्वलेयरमैकर

कोष्ठक 8.2: भाष्यशास्त्र पर स्कलेयरमैकर के विचार

स्कलेयरमैकर का मानना था कि मनुष्यों का भाषात्मक रुझान होता है और उनकी भाषा संबंधी योग्यता उन्हें दूसरों के कहे हुए शब्दों को समझने में मदद करती है। स्कलेयरमैकर भाष्यशास्त्र को कला मानता था और उसका यह मानना था कि कही अथवा लिखी हुई और समकालीन अथवा ऐतिहासिक हर बात को व्याख्या द्वारा समझा जा सकता था। हर उद्गार उसके वक्ता के विचार का मूर्त रूप था और इस विचार को केवल भाषा द्वारा मूर्त रूप दिया जा सकता था। अतः समझ और व्याख्या के सदैव दो पक्ष अथवा तत्व थे, अर्थात् व्याकरण अथवा भाषाई तत्व और मनोवैज्ञानिक अथवा दिव्यात्मक तत्व। स्कलेयरमैकर (1819: 74) के अनुसार, 'जिस प्रकार बोलने की प्रत्येक क्रिया भाषा की संपूर्णता और वक्ता के विचारों की संपूर्णता से जुड़ी होती है उसी प्रकार बोलने को समझने में दो क्षण होते हैं - पहला है भाषा और उसकी संभावनाओं के संदर्भ में कही गई बात को समझना तथा दूसरा है वक्ता की सोच के संदर्भ में उसे तथ्य के रूप में समझना।



स्कलेयरमैकर
(1768-1834)

स्कलेयरमैकर (1819 : 75) का मानना था कि 'ये दोनों भाष्यशास्त्र संबंधी कार्य पूरी तरह से बराबर हैं और व्याकरण संबंधी व्याख्या को 'निम्न' और मनोवैज्ञानिक व्याख्या को 'उच्च' मानना गलत होगा। 'व्याकरणिक व्याख्या, समझ के भाषा संबंधी पक्ष से जुड़ी हुई है। यह आयाम पूर्ण तथा आंशिक भाष्यशास्त्र संबंधी वृत्त से जुड़ा हुआ है क्योंकि इसमें एकाकी अभिव्यक्ति या कार्य और भाषा अथवा साहित्य की पूर्व-प्रदत्त संपूर्णता के बीच संबंध का विचार भी आता है। दूसरी ओर, मनोवैज्ञानिक व्याख्या वह दिव्यात्मक आयाम है जो सृजनात्मक कार्य के पुनर्निर्माण के लिए वक्ता अथवा लेखक की वैयक्तिकता तथा मौलिकता को खोजने का प्रयास करता है।



हर्मस, एक ग्रीक देवता

समझने का उद्देश्य 'मूल पाठ को पहले स्वयं समझना और फिर उसे लेखक से बेहतर समझना' होता है। चूँकि हमें इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता कि लेखक के मस्तिष्क में क्या था तो हमें ऐसी अनेक बातों के विषय में जागरूक होना होगा जिनके बारे में लेखक को चेतना न हो, सिवाय उस सीमा तक ही जब लेखक स्वयं अपने काम पर चिंतन करे और अपने काम को खुद ही पढ़े। इसके अतिरिक्त, वस्तुनिष्ठ पक्षों के संदर्भ में, लेखक के पास ऐसी कोई सामग्री नहीं होती जो हमारे पास न हो।' (स्कलेयरमैकर 1819: 83)

8.4 भाष्यशास्त्र और समाजशास्त्र

व्याख्या के नियमों की अवस्था तक पहुँचने के बाद, ठीक से व्याख्या करने के लिए हमें लेखक की बातों को भाषा की दृष्टि से संदर्भित करना है तथा लेखक को ऐतिहासिक दृष्टि से संदर्भगत करना है। हम अब भी दुविधा में हैं। मूल पाठों की व्याख्या के नियमों का समाजशास्त्र से क्या संबंध है? क्या वे साहित्यिक आलोचना जैसे अध्ययन के विषयों से

संबद्ध नहीं हैं? टॉम्पसन (1981: 37) के शब्दों में, इन प्रश्नों का उत्तर है — 'उनके कार्य की रोशनी में, व्याख्या किया जाने वाला मूल पाठ अब केवल शास्त्रीय अथवा ईसाई धर्म के साहित्य का अंश नहीं था बल्कि वह मानवता की उपलब्धियों और विफलताओं का दस्तावेज रूपी इतिहास था।' टॉम्पसन के शब्द महान जर्मन इतिहासकारों — लियोपोल्ड वॉन रेंक (जीवनकाल 1795-1886) और गुस्ताव ड्रॉयसन (जीवनकाल 1808-1884) के विचारों को प्रतिध्वनित करते हैं। जब इतिहास ही स्वयं अध्ययन-विषयक कथा या मूल पाठ बन गया तो पाठ तुल्यरूप के रूप में सामाजिक प्रचलनों और सामाजिक संस्थाओं का अवलोकन करना स्वाभाविक ही था क्योंकि इन्हीं के अर्थ की व्याख्या की जानी थी।

हालाँकि, इस प्रकार समाजशास्त्र को परिभाषित करना तो समाजशास्त्र के संस्थापक ऑगस्ट कॉम्टे (जीवनकाल 1788-1857) को निरर्थक लगता था। कॉम्टे ने 1830 और 1842 के बीच प्रत्यक्षवादी दर्शनशास्त्र के छह भाग प्रकाशित किए (समाजशास्त्र पर कॉम्टे के विचारों को जानने के लिए कोष्ठक 8.3 देखिए)। कॉम्टे के लिए, सभी तथ्य अपरिवर्ती प्राकृतिक नियमों के अधीन होते हैं, जहाँ तक मानवीय तथ्यों का प्रश्न है, मनुष्यों के बौद्धिक इतिहास, स्वयं तथा अपने आस-पास के जगत के विषय में मनुष्यों के सोचने से जुड़े नियम ही मूलभूत नियम हैं।

कोष्ठक 8.3: समाजशास्त्र के बारे में कॉम्टे के विचार

कॉम्टे ने समाजशास्त्र को बौद्धिक इतिहास के चरम उत्कर्ष के रूप में देखा, जो धर्मशास्त्र से तत्त्वविज्ञान और उससे समाजशास्त्र तक चला। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की भाँति, तीन चरणों का यह सिद्धांत तब से चला आ रहा था जब से पृथ्वी पर मनुष्यों का जीवन है। हमारे ज्ञान की प्रत्येक शाखा एक के बाद एक तीन भिन्न सैद्धांतिक दशाओं से गुजरी है। ये दशाएँ हैं धर्मशास्त्रीय अथवा कल्पित दशा, तत्त्वविज्ञान संबंधी अथवा अमूर्त दशा और वैज्ञानिक अथवा प्रत्यक्षवादी दशा। धर्मशास्त्रीय दशा में, मस्तिष्क सभी प्रतिरूपों को अलौकिक जीवों की तात्कालिक क्रियाओं का परिणाम मानता है। तत्त्वविज्ञानी दशा में, मस्तिष्क सभी जीवों को अमूर्त बलशाली और वास्तविक इकाइयाँ मानता है। प्रत्यक्ष दशा में, मस्तिष्क ने परम बोध की ब्रह्मांड के उद्गम तथा अंत की और तथ्यों के कारणों की निरर्थक खोज को छोड़कर उनके नियमों के अध्ययन यानी अनुक्रम और समानता के उनके अपरिवर्ती संबंधों को खोजने में लग जाता है (गॉर्डन 1991 देखिए)। भौतिकी तथा जीवविज्ञान जैसे अध्ययन के अनेक विषय धर्मशास्त्र तथा तत्त्वविज्ञान की अवस्थाओं से गुजरकर अब वैज्ञानिक हो गए हैं। यदि समाजशास्त्र भी इन विज्ञानों के मार्ग पर चले तो उसे भी वैज्ञानिक प्रस्थिति मिल सकती है।

कॉम्टे के उपर्युक्त विचारों के विरुद्ध, विल्हेम डिल्थी (जीवनकाल 1833-1911) ने 1883 में अपनी पुस्तक इंट्रोडक्शन टू दि ह्यूमन साइंसिस प्रकाशित की। इसमें डिल्थी ने कहा कि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि मानव विज्ञान ने स्वयं को सफलतापूर्वक धर्मशास्त्र और तत्त्वविज्ञान के वर्चस्व से मुक्त कर लिया था किंतु प्राकृतिक विज्ञान के वर्चस्व के आगे उसने घुटने टेक दिए थे। डिल्थी ने प्राकृतिक विज्ञान और मानव विज्ञान (जिसमें सामाजिक विज्ञान भी शामिल होता है) के बीच शोध-पद्धतिमूलक भेद डालकर कॉम्टे का विरोध किया। मनुष्य निश्चित रूप से प्रकृति का हिस्सा हैं परंतु पत्थर, वायु और वृक्षों जैसी अन्य प्राकृतिक वस्तुओं से अलग उनमें चेतना होती है। उनका एक अंतर्मन होता है और जब उनके कुछ भी करने में उस कुछ का उनके लिए एक अर्थ होता है जैसे जब कोई लेखक कुछ लिखते तो अपने लेखन द्वारा उसे कुछ कहने की इच्छा होती है। सामाजिक कार्य के कर्ताओं के लिए उसके अर्थ को जाने बिना हमें सामाजिक कार्य का बोध कैसे हो सकता है? जब डिल्थी ने यह प्रश्न पूछा तो भाष्यशास्त्र ने एक छल्लाँग लगाई और वह मूल पाठ की व्याख्या करने की पद्धति से बदलकर सामाजिक विज्ञान की पद्धति बन गया। इस छल्लाँग ने एक

प्रश्न प्रस्तुत किया कि वह क्या है जिसे सामाजिक क्रिया को मूल पाठ के रूप में अवधारणीकृत करने के लिए पहले से ही मान लिया जाता है। उसके बाद कार्य यह था कि मूल पाठ की व्याख्या की जाए और उसके अर्थ को समझा जाए।

डिल्थी के अनुसार, 'समझना' मानव जीवन की एक श्रेणी है। जब मनुष्यों के हर कार्य उनकी अपनी परिस्थिति को समझने के अनुसार ही किए जाते हैं। उनके कार्यों को समझने के लिए, हमें पहले यह समझना होगा कि अपनी परिस्थिति की उनकी समझ क्या है। डिल्थी ने कहा कि मानव और सामाजिक विज्ञानों में व्याख्या की औपचारिक विधियाँ 'समझ के इन्हीं प्राथमिक 'पों' से मिलती हैं जो प्रतिदिन के मानव-जीवन और सामाजिक अंतःक्रियाओं की विशिष्टता है। डिल्थी (1883: 154) के अनुसार, 'सबसे पहले व्यावहारिक जीवन की रुचियों में समझ पैदा होती है। व्यावहारिक जीवन में एक-दूसरे के साथ संपर्क करने में लोग परस्पर निर्भर होते हैं। उन्हें एक-दूसरे के साथ संपर्क करना ही पड़ता है। पहले को पता होना पड़ता है कि दूसरे को क्या चाहिए। इस प्रकार समझ के प्राथमिक रूप विकसित होते हैं।

डिल्थी के लिए समझने का उद्देश्य सदैव 'जीवन की अभिव्यक्ति' होता है। जीवन की अभिव्यक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं, अर्थात्

- इन प्रकारों में पहली हैं अवधारणाएँ, निर्णय और बृहत् विचार संरचनाएँ।
- जीवन अभिव्यक्तियों के दूसरे प्रकार हैं कार्य।
- तीसरा प्रकार 'भोगा हुआ अनुभव' है।

जीवन की किसी भी अभिव्यक्ति की समझ 'निष्पक्ष मस्तिष्क' के माध्यम में होती है। 'निष्पक्ष मस्तिष्क' की हीगल की श्रेणी के परे जाते हुए डिल्थी (1883 : 155) ने लिखा, 'मेधावी से मेधावी व्यक्ति का कार्य भी उसके युग तथा परिवेश में व्याप्त विचारों, भावनाओं और आदर्शों को दर्शाता है। निष्पक्ष मस्तिष्क का जगत व्यक्ति को शैशवावस्था से ही पोषित करता रहता है। यह वह माध्यम है जिससे अन्य लोगों और उनके जीवन की अभिव्यक्तियों को समझा जाता है।

समझ के प्राथमिक रूप इसके उच्चतर रूपों को जन्म देते हैं। हालाँकि यह समझ निष्पक्ष मस्तिष्क के माध्यम से होती है, 'समझने की विषय-वस्तु सदैव व्यक्तिनिष्ठ होती है.... मनुष्य के उदाहरण के रूप में ही नहीं बल्कि व्यक्ति विशेष के समग्र रूप से हमारा संबंध होता है '(डिल्थी 1883: 158)। यदि हमें व्यक्ति के 'आंतरिक मूल्य' पर डिल्थी द्वारा दिए गए बल को स्वीकार करें तो हमें यह दुविधा होगी कि 'निष्पक्ष मस्तिष्क' की हमारी श्रेणी किस प्रकार व्यक्ति पर जोर देने के साथ मेल खाती है। निष्पक्ष मस्तिष्क की और मनुष्य के समग्र रूप की डिल्थी द्वारा प्रस्तुत श्रेणियाँ स्क्लेयरमैकर द्वारा बताए गए ज्ञान के भाषाई और मनोवैज्ञानिक तत्वों के बीच भेद के समान हैं। इन दोनों विचारकों के लिए केंद्रीय मुद्दा यह है कि समझ के दोनों पक्ष एक-दूसरे के साथ किस प्रकार मेल खाते हैं।

यह रोचक है कि डिल्थी के भाष्यशास्त्र की यह दुविधा संरचनात्मक प्रकार्यवाद द्वारा चलाए संरचना-एजेंसी विवाद से मेल खाती है। 1960 के दशक तक संरचनात्मक प्रकार्यवाद के पार्सन्स के मॉडल का समाजशास्त्र पर, विशेष तौर पर समाजशास्त्र के अंग्रेज़ी-अमेरिकी प्रकार, पर वर्चस्व रहा। 1960 के दशक में नृजाति शोध-पद्धति, प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद और भाष्यशास्त्र के रूप में इस मॉडल के विरुद्ध एक आंदोलन हुआ। नृजाति शोध-पद्धति और भाष्यशास्त्र दोनों का कहना था कि सामाजिक क्रिया को संरचनाओं अथवा कारणों के रूप में इरादों द्वारा समझाने की अपेक्षा सामाजिक वैज्ञानिक को कार्य का अर्थ समझने की

जरूरत है। नृजाति शोध-पद्धति के लिए अर्थ का मार्ग यदि इरादों में से निकलता है तो भी इसका अर्थ यह है कि इरादे कारण नहीं होते हैं बल्कि वे अर्थ को जन्म देने होते हैं। दूसरी ओर, भाष्यशास्त्र के लिए ये अर्थ इरादों से इतने नहीं मिलते जितने सामाजिक और सांस्कृतिक प्रचलनों से मिलते हैं। (एलेक्जेंडर 1987)

8.5 दार्शनिक भाष्यशास्त्र

आइए अब हम अपनी मुख्य कहानी पर वापस आएँ जहाँ डिल्थी के शोध-पद्धतिपरक मुद्दों को एनरिको बेट्टी (जीवनकाल 1823-1892) ने आगे विकसित किया, वहीं हैस जॉर्ज गेडमर (जीवनकाल 1900-2002) भाष्यशास्त्र की चर्चा को भिन्न स्तर पर ले गया। गेडमर का कहना था कि यदि समझ को जीवन की श्रेणी होने के दावे को गंभीरता से लिया जाए तो भाष्यशास्त्र को शोध-पद्धति के उपकरण की तरह संकुचित रूप में नहीं देखा जा सकता। तब तो हमें 'सार्वभौमिक' भाष्यशास्त्र के बारे में चर्चा करनी होगी क्योंकि प्रत्येक मानव अनुभव का एक भाष्यशास्त्रीय आयाम होता है। बिना स्वचेतनामय हुए हमें हर समय समझने के भाष्यशास्त्रीय कार्य में लगे रहना होता है, किंतु हमें उसकी जागरूकता तभी होती है जब हमें गलतफ़हमी का अनुभव होता है। तब हमें ऐसा महसूस होता है कि हमने स्थिति को ठीक से नहीं समझा है। जिस प्रकार जीवन-भर श्वास लेना हमारा एक सतत कार्य है उसी प्रकार 'समझ' जगत में हमारे अस्तित्व का ही एक हिस्सा है। ट्युथ एंड मैथड' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में गेडमर (1975) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस भाष्यशास्त्र को वह विकसित कर रहा था, वह मानव विज्ञानों की शोध-पद्धति नहीं था। 'ट्युथ एंड मैथड' के दार्शनिक प्रश्न थे — समझ क्या होती है और यह किस प्रकार संभव है? गेडमर (समझ पर गेडमर के विचार के लिए कोष्ठक 8.4 देखिए) ने भाष्यशास्त्र को 'वहाँ होने की मूलभूत अस्तित्ववान गति के रूप में परिभाषित किया जिसमें उसकी परिमितता और ऐतिहासिकता है तथा इसलिए उसमें जगत के अनुभव का समग्र रूप शामिल है'। इस प्रकार भाष्यशास्त्र अस्तित्व का अध्ययन और अंत में भाषा का अध्ययन है क्योंकि समझ में आने वाला अस्तित्व भाषा ही है (हेकमैन 1986: 94 में यथा-उद्धृत)।

कोष्ठक 8.4: समझ के बारे में गेडमर के विचार

'ट्युथ एंड मैथड' में गेडमर को समझ की प्रबोधन तथा रोमानी अवधारणा, दोनों में त्रुटि दिखाई दी कि दोनों ही तर्क और परंपरा के बीच अथवा निर्णय और पूर्वाग्रह के बीच झूठे विपक्ष पर आधारित थे। समझ का आशय केवल निर्णयों से नहीं है, और न ही पूर्वाग्रहों के कारण सदैव गलतफ़हमी होती है। इसी प्रकार यदि तर्कयुक्तता के नियम व्यक्ति को कुछ परंपराओं के संदर्भ में आशय समझने में मदद करते हैं तो परंपरा साधारण जड़ता का विषय नहीं है। इसके स्थान पर परंपरा सदैव स्वतंत्रता का तत्व और स्वयं इतिहास का तत्व है। यहाँ तक कि सर्वाधिक सत्यनिष्ठ और ठोस परंपरा स्वभावतः ही कभी पहले मौजूद जड़ता के कारण जारी नहीं रहती। परंपरा को निश्चयपूर्वक कहने, अपनाने तथा विकसित करने की आवश्यकता होती है। परंपरा वास्तव में ऐसा संरक्षण है जैसा सारे ऐतिहासिक बदलावों में क्रियाशील रहता है।.....किसी भी दर से, संरक्षण उतनी ही मुक्त रूप से चुनी गई क्रिया है जितनी कि क्रांति और पुनर्निर्माण (गेडमर 1975)।

भाष्यशास्त्र पर अपने विचारों में गेडमर ने डिल्थी और स्कलेयरमैकर से कहीं अधिक, शोधकार की अवस्थिति को भी समस्या के रूप में प्रस्तुत किया। गेडमर के लिए, 'अतीत की कोई भी व्याख्या चाहे वह किसी इतिहासकार, दार्शनिक अथवा भाषाशास्त्री की हो, व्याख्याकार के अपने समय और स्थान के अनुसार उसी प्रकार रचित होती है जिस प्रकार शोधगत तथ्य इतिहास में अपने काल के अनुसार होता है। अतीत के बारे में अपनी समझ में शोधकारों को सदैव अपने पूर्वाग्रहों से मार्गदर्शन मिलता है। समझने की क्रिया अथवा

व्याख्या के लिए समझे जाने वाले तथ्य के अपरिचित रूप को पार कर उसे परिचित वस्तु में बदलने की ज़रूरत होती है, जिसमें ऐतिहासिक तथ्य का क्षितिज तथा व्याख्याकार का क्षितिज मिल जाते हैं। अध्ययन की वस्तु और विषय के क्षितिजों का विलय इसलिए हो पाता है क्योंकि ऐतिहासिक वस्तु तथा व्याख्याकार का भाष्यशास्त्र प्रचालन (operation), दोनों ही उस अभिभावी (overriding) ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परंपरा या नैरंतर्य का हिस्सा होते हैं जिसे गेडमर प्रभावी इतिहास कहता है (क्षितिजों के विलय तथा प्रभावी इतिहास पर अधिक जानकारी के लिए डोस्टल 2002 देखिए)।

8.6 संदेह का भाष्यशास्त्र

भाष्यशास्त्र के क्षेत्र में योगदान देने वाला अगला प्रमुख विचारक है — जॉर्गन हेबरमास (जीवनकाल 1929-)। चूँकि हेबरमास भाष्यशास्त्र के क्षेत्र में फ्रैंकफ़र्ट स्कूल द्वारा आरंभ किए गए मार्क्सवाद से आया था, उसके शोध-पद्धति वर्गीकरण के सिद्धांत मार्क्सवादी तथा फ्रायड, दोनों के सिद्धांतों के प्रभाव को दर्शाते हैं। हेबरमास के लिए, मानव विज्ञानों का इतिहास दर्शाता है कि मनुष्यों ने रुचियों को हासिल करने के लिए ज्ञानार्जन किया। ये हैं:

- अनुभववादी-विश्लेषणात्मक विज्ञानों की ज्ञानपरक रुचि जो तकनीकी नियंत्रण में होती है
- सांस्कृतिक विज्ञानों की ज्ञानपरक रुचि जो व्यावहारिक होती है
- आलोचनात्मक विज्ञानों की ज्ञानपरक रुचि जो मुक्ति या स्वतंत्रता में होती है।

विज्ञान के तर्कसंगत शोध-पद्धतिजनक नियमों तथा उसकी ज्ञानपरक रुचियों में संबंध स्थापित करके हेबरमास कहता है कि समाज के आलोचनात्मक विज्ञान के लिए फ्रायड के मनोविश्लेषण की वर्गीकरणात्मक संरचना निदर्शनात्मक है। हेबरमास मनोविश्लेषण की पद्धति को 'गहन भाष्यशास्त्र' का वह स्वरूप मानता है, जो शोध-पद्धतिपरक आत्म-चिंतन उन्मुख विज्ञान में स्पष्टीकरण और समझ का समावेश करता है। (हमें थोड़ी ही देर बाद पता चलेगा कि रिकर ने हेबरमास के मनोविश्लेषण की पद्धति को 'संदेह का भाष्यशास्त्र' का नाम दिया है।) मरीज़ ने जब अपने मनोरोग को समझ लिया है या उसपर काबू पा लिया तो इसी संदर्भ में सफल मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को परिभाषित किया जाता है। इस विचार का उस स्थान तक सामान्यीकरण किया जा सकता है जहाँ तक प्रकृति की अन्य वस्तुओं से अलग, मनुष्यों में अपने द्वारा की जा रही क्रियाओं की समझ तथा उनके प्रति चेतना होती है। यदि सामाजिक वैज्ञानिक को इस समझ तक सीमित नहीं रहना है तो भी सामाजिक वैज्ञानिक को झूठी चेतना कहकर इसकी उपेक्षा भी नहीं करनी है।

गेडमर की दार्शनिक अथवा सर्वव्यापी भाष्यशास्त्र की अवधारणा का विरोध करने के लिए हेबरमास गहन भाष्यशास्त्र की अपनी इस श्रेणी का प्रयोग करता है। हेबरमास मानता है कि कोई अपरिचित दिखने वाले वस्तु के अर्थ की समझ तब आ सकती है जब उस अपरिचित क्रिया को उसके ऐतिहासिक तथा सामाजिक संदर्भ में रखा जाता है। किंतु, जिसे वह 'व्यवस्थित रूप से विकृत संचार' (systematically distorted social communication) कहता है, उसके संदर्भ में हेबरमास समझ के अभाव की समस्या की ओर इशारा करता है जो क्रिया के संदर्भगत करने के बाद भी रहती है। आइए, इस बात को समझने के लिए मनोरोग के उदाहरण का प्रयोग करें। जैसे ज़रूरत न होने पर भी बार-बार हाथ धोना। यदि हमें व्यक्ति विशेष द्वारा लगातार हाथ धोने का अर्थ समझना हो तो हमें उस घटना को भी जानना होगा जिसने इस व्यक्ति में यह मनोरोग को आरंभ किया। इस बात को समझने के लिए हमें पहले इसे स्पष्ट करना होगा (कोष्ठक 8.5 देखिए)।

कोष्ठक 8.5: स्पष्टीकरणात्मक समझ की हेबरमास की अवधारणा

हेबरमास (1929-) ने स्पष्टीकरणात्मक समझ (explanatory understanding) की श्रेणी का प्रतिपादन किया और कहा कि क्या अर्थात् व्यवस्थित रूप से विकृत अभिव्यक्ति की सार्थक विषय-वस्तु को नहीं 'समझा' जा सकता है। यदि उसी समय पर क्यों अर्थात् स्वयं व्यवस्थित विकृति के लिए जिम्मेदार दशाओं में लाक्षणिक दृश्य के उद्गम को स्पष्ट नहीं किया जाए....., विशिष्ट रूप से अगम्य अभिव्यक्तियों का अर्थ खोजने वाले गहन भाष्यशास्त्र के रूप में स्पष्टीकरणात्मक समझ सरल भाष्यशास्त्रीय समझ की भाँति न केवल प्राकृतिक रूप से मिली संचारमय दक्षता के प्रशिक्षित अनुप्रयोग को मानती है बल्कि संचारमय दक्षता के सिद्धांत को भी मानती है। इस प्रकार का सिद्धांत भाषा की अंतर-आत्मपरता के स्वरूपों और उनकी विकृति के कारणों से संबद्ध होता है।



जोरगन हेबरमास
(1929-)

क्रांतिक विज्ञानों की उद्धारक रुचि के लिए गहन भाष्यशास्त्र को संसाधन के रूप में प्रयोग करने के लिए हेबरमास ने कहा कि गेडमर के भाष्यशास्त्र के सामंजस्य में समझ की समस्या के बदलने के प्रति हमें सचेत रहना है। जब तक हममें 'व्यवस्थित विकृतियों' (systematic distortions) की संभावना के प्रति जागरूकता नहीं होती तब तक हमारे लिए तथ्य की अपरिचितता पर स्पष्टीकरण समझ से पार लग पाना संभव न होगा जबकि सामंजस्य द्वारा यह संभव हो पाएगा।

8.7 दृश्यप्रपंचशास्त्र और भाष्यशास्त्र

अंत में, आप ध्यान दें कि अपने भाष्यशास्त्र में, पॉल रिकर हेबरमास की स्पष्टीकरण से पीठ मोड़ने को आगे ले जाता है। सबसे पहले, अपने 'मूल पाठ के मॉडल' में सामाजिक विज्ञानों की पद्धति के रूप में भाष्यशास्त्र के महत्व को साबित करने के लिए रिकर दर्शाता है कि मानव क्रिया की संरचना लिखित सामग्री के समान होती है। रिकर (1971) पहले कहे गए और लिखे गए वाद-संवाद में अंतर करता है। बोली गई बातचीत से भिन्न लिखित वाद-संवाद में लेखक और उसके द्वारा लिखित सामग्री के अर्थ के बीच संबंध और लिखित सामग्री के अर्थ और उस विशिष्ट संभाषी के बीच संबंध टूट जाता है जिसे संबोधित किया गया है। लिखित वाद-संवाद की भाँति मानवीय क्रियाप भी उसके लेखक से अलग हो सकती है, उसके अपने परिणाम होते हैं, वह सदैव अपने महत्व से परे अपनी आरंभिक स्थिति तक चली जाती है और इसे असंख्य लोगों को संबोधित करते हुए देखा जा सकता है। ये नाना-प्रकारीय समानताएँ क्रिया को मूल पाठ का दर्जा देने के लिए और मानवीय क्रिया पर भाष्यशास्त्रीय वाद-संवाद की विशिष्ट प्रस्थिति को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त है।



पॉल रिकर
(1913-2005)

हेबरमास की भाँति, रिकर भी मनोविश्लेषण को भाष्यशास्त्र के एक प्रकार के रूप में देखता है। किंतु रिकर कहता है कि यह भाष्यशास्त्र, आस्था का भाष्यशास्त्र न होकर संदेह का भाष्यशास्त्र है। आस्था का भाष्यशास्त्र जहाँ श्रवण के प्रति तत्परता और पवित्र के उजागर के रूप में वस्तु के लिए आदर द्वारा प्रचालित होता है वहीं संदेह का भाष्यशास्त्र, दी गई वस्तु के प्रति संदेह तथा वस्तु के प्रति आदर की अस्वीकृति द्वारा संचालित होता है।

न केवल मनोविश्लेषण बल्कि संरचनावाद भी अर्थपूर्ण विषय के प्राधिकार पर प्रश्न-चिन्ह लगाता है : मूल पाठ का निष्पक्ष अर्थ लेखक के आत्मपरक आशय से भिन्न होता है और इसलिए सही समझ की समस्या लेखक के तथाकथित आशय पर वापस जाने मात्र से नहीं सुलझाई जा सकती है। स्वलेयरमैकर तथा डिल्थी के हाथों भी, भाष्यशास्त्र ने जानबूझकर किए गए कार्य के अर्थ को संकुचित किया था किंतु रिकर के विचारों में नई बात यह है कि वह 'समझ से स्पष्टीकरण तक' और 'स्पष्टीकरण से समझ तक' रूपांतरण के विषय में बोलने लगा है। रिकर (1971) कहता है कि हमें संरचनात्मक विश्लेषण को 'सीधी-सादी' (naive) व्याख्या तथा 'आलोचनात्मक' व्याख्या के बीच, 'सतही' व्याख्या और 'गहन' व्याख्या के बीच एक आवश्यक चरण मानना चाहिए। इस प्रकार, व्याख्या के वाद-संवाद में अंतिम आंदोलन समझने की क्रिया में चरम सीमा तक जाता है जिसमें संरचनात्मक कार्य विश्लेषण की स्पष्टीकरणात्मक पद्धतियाँ मध्यस्थता करती हैं।

8.8 निष्कर्ष

भाष्यशास्त्र के अनुप्रयोग का आशय पारंपरिक मूल पाठ के अंतिम उपयोग से है, जैसे एक न्यायाधीश किसी मामले में कानून की व्याख्या करके उसे उस मामले पर लागू करे अथवा कोई उपदेशक किसी समकालीन नैतिक मुद्दे पर धार्मिक नियम की व्याख्या करके उसे लागू करे। इस अर्थ में, भाष्यशास्त्र हमारे चारों तरफ मौजूद है और हमें आशा है कि आपको अपने अनुसंधान में भाष्यशास्त्र का कुछ उपयोग करने का अवसर मिलेगा। आगे की इकाइयों में आपको समाजशास्त्रीय अनुसंधान में प्रयुक्त समकालीन परिप्रेक्ष्यों के विषय में मालूम होगा। कुछ समकालीन सामाजिक अनुसंधान में भाष्यशास्त्र के अनुप्रयोग को खोजना आपके लिए रोचक होगा।

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बाउमैन, जेड. 1978, *हर्मिन्यूटिक्स एंड सोशल साइंस*, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस : न्यूयॉर्क।

बर्नस्टाइन, आर. 1983, *बियांउ ऑब्जेक्टिविज़्म एंड रिलेटिविज़्म* : साइंस, *हर्मिन्यूटिक्स एंड प्रेक्सिस*, यूनिवर्सिटी ऑफ पैसिलवनिया प्रेस : फ़िलाडेल्फ़िया।

ब्लैचर, जे. 1980, *कंटम्पोरेरी हर्मिन्यूटिक्स* : *हर्मिन्यूटिक्स एज़ मैथड*, *फ़िलॉसफ़ी एंड क्रिटिक*, रूलेज एंड केगन पॉल : लंदन।

ब्रन्स. जी.एल. 1992, *हर्मिन्यूटिक्स* : *एन्शियंट एंड मॉडर्न*, येल यूनिवर्सिटी प्रेस : न्यू हेवन।

ग्रोन्डिन. जे.एल. 1994, *इंट्रोडक्शन टू फ़िलॉसफ़िकल हर्मिन्यूटिक्स*, येल यूनिवर्सिटी प्रेस : न्यू हेवन।

खंड 3 की प्रस्तावना

समकालीन परिप्रेक्ष्य

यद्यपि हमें विदित है कि स्नातकोत्तर स्तर पर छात्र-छात्राओं को अपनी बुनियादी बातें मालूम ही हैं, फिर भी थोड़ा पीछे लौटना और उनका प्रत्यावर्तन करना हमेशा काफी उपयोग सिद्ध होता है। यह बात विशेष रूप से इसलिए महत्वपूर्ण है कि आरंभिक अवस्था में अक्सर ही स्पष्टता का अभाव इस विश्वास के साथ लंबी समाजशास्त्रीय यात्रा पर ले जाया जा सकता है कि अस्पष्टता समाजशास्त्र की एक पूर्वशर्त है। यह प्रश्न उठ सकता है कि यह समाजशास्त्र में ही क्यों है, क्यों नहीं अर्थशास्त्र या राजनीति-विज्ञान में भी है कि सैद्धांतिक एवं शोधपद्धतिमूलक मुद्दों वाले उपागमों पर निरंतर चर्चाओं की मांग की जाती है।

इस प्रश्न के दो उत्तर प्रस्तुत हैं:

प्रायः विशिष्ट राजनीतिक संदर्भ एक बहस छेड़ देते हैं जैसा कि काफी कुछ स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों के विवादास्पद मुद्दों पर हमारे देश में हुआ है। ऐसा नहीं है कि विद्वानों ने इतिहासशास्त्र के विषय पर चर्चा न की हो (देखें ई. एच. कर कृत हॉट इज़ हिस्ट्री) यह छोटी सी पुस्तक समाजशास्त्र के छात्र-छात्राओं के लिए शोध पद्धति का उत्तम परिचय देती है। परंतु दुर्भाग्यवश इतिहासशास्त्र से जुड़ी बहस एक तरफ हो गई। प्रायः पाठ्य-पुस्तकों के विवाद में मुख्य मुद्दा मात्र विचार वैचारिक नहीं है बल्कि शोध पद्धतीय भी है। ऐतिहासिक तथ्यों से क्या आशय है? कैसे ऐसे तथ्य हमें मिलते हैं? फिर ऐतिहासिक विधि का क्या अर्थ है? सौभाग्यवश समाजशास्त्र में समाज, सामाजिक तथ्यों, समाज को "जानने" की संभावना और "जानने" की विधियों के विषय में अधिक से अधिक प्रश्न उठाये जाते रहे हैं।

- इस विषय में राजनीति-विज्ञान और अर्थशास्त्र जैसे शिक्षा-विषयों में अधिक मतैक्य रहा है कि उनके अध्ययन की विषय-वस्तु क्या है? राजनीति-विज्ञान में उदाहरण के लिए, राजनीतिक-दर्शन के अनुगामियों के बीच उल्लेखनीय सैद्धांतिक चर्चाएं दिखाई पड़ती हैं। परंतु विभिन्न सैद्धांतिक रंगों के राजनीति-वैज्ञानिक प्रायः संभव मानक मात्रात्मक तकनीकों के साथ क्षेत्रीय शोध करते हैं। वे सिद्धांत, विधियों, तकनीकों एवं विषयवस्तु के बीच संबंधों के बारे में बेकार की चिंता नहीं करते। जबकि अर्थशास्त्र में नव-शास्त्रीय एवं मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों के बीच स्पष्ट विभाजन है। यहाँ भी सिद्धांत एवं अनुभवजन्य शोध के बीच संबंधों के विषय में किसी तरह का उल्लेखनीय सैद्धान्तिकरण नहीं दिखाई पड़ता। महिलावादी अर्थशास्त्रियों में महत्वपूर्ण रूप से इन प्रश्नों को उठाना शुरू कर दिया है। समाजशास्त्र की विषयवस्तु हमेशा ही विवादग्रस्त रही है, इस प्रवृत्ति को विषय की खूबी के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि किसी कमजोरी के लक्षण के रूप में। समाजशास्त्र में मूल विवाद यह भी रहा है कि क्या विवाह, परिवार, जाति एवं धर्म जैसे अन्य विषयों द्वारा छोड़ दिये गए बचे खुचे विषय ही समाजशास्त्रीय अध्ययन के विषय हैं या फिर, क्या समाजशास्त्र का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है जिसके अनुसार समाज का एक ओर तो समग्र इकाई की तरह अध्ययन होता है और दूसरी ओर समग्र का निर्माण करने वाले अंगों का आपस में संबंधों का भी अध्ययन किया जाता है।

- विषयवस्तु और विधियों संबंधी सुलभ स्पष्टता के इस अभाव को हानिकारक नहीं वरन् एक बड़े वरदान के रूप में देखा जाना चाहिए। इसने ही समाजशास्त्र के विषय को चिंतनशील और आत्मालोचक बनाया है। बारंबार ज्ञान की प्रकृति के बारे में मुख्य

ज्ञान मीमांसात्मक प्रश्नों पर हमारा ध्यान जाता है अथवा मानव समाज में अस्तित्व का प्रकृति पर तात्त्विकीय प्रश्नों की ओर बरबस हमारा बार-बार लौटना होता है। हमारा प्रश्न होता है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को सिद्धांत की जाँच हेतु शोध की ओर कदम बढ़ाने चाहिए या फिर सिद्धांत को जन्म देने की ओर? हमारी बहस का विषय है – हमें कार्य-कारण संबंधों को स्थापित करने पर ध्यान केंद्रित करना है, अथवा लोगों के जीवन में अर्थ के महत्व की तलाश करें। दूसरे शब्दों में हम निष्पक्ष और आत्मपरक के बीच, वृहत् एवं सूक्ष्म के बीच क्या मूल्य पक्षपात शून्य एवं पक्षपाती शोध के बीच संबंधों पर चिंतन करें?

इस परिचय में इस बात पर जोर देने का प्रयास किया गया है कि समाज के अध्ययन के लिये विभिन्न उपागम इतने महत्वपूर्ण क्यों हैं? और यह भी कि यह एक सतत प्रक्रिया क्यों है। समाज में परिवर्तन और सिद्धांत में परिवर्तन दोनों एक साथ जुड़े हैं और नये प्रश्नों को उठाते हैं। इकाई 9 में समाज के अध्ययन के लिये तीन शोध पद्धतीय उपागमों में से एक पर ध्यान केंद्रित किया गया है। ये तीन उपागम हैं – तुलनात्मक, महिलावादी और सहभागी। इन तीन इकाइयों (9, 10 व 11) में आपको स्पष्ट होगा कि मुख्य मुद्दों को लेकर किस प्रकार इनमें से प्रत्येक हमारा मार्ग निर्देशन करता है। मुख्य मुद्दे हैं निष्पक्ष एवं आत्मपरक, वृहत् एवं सूक्ष्म, मूल्य टस्थता एवं पक्षपाती दृष्टिकोण।

तीन इकाइयों के दौरान तुलनात्मक, महिलावादी एवं सहभागी दृष्टिकोणों पर चर्चा का कारण है कि इन उपागमों में से प्रत्येक की अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक विरासतें और गतिरेखाएं हैं। पुस्तक के एक विशिष्ट खंड में ही तीनों दृष्टिकोणों को देने का कारण है हक ये गति-रेखाएं उस भाँति अनुभवजन्य शोध के क्षेत्र में सक्रिय दृष्टिकोणों के संदर्भ में अति प्रासंगिक हैं। दरअसल सिद्धांत, विधियों एवं तकनीकों के भिन्न परंतु सम्बद्ध स्तरों के बीच जुड़ाव को समाजशास्त्र के सभी छात्र-छात्राओं एवं समाजशास्त्रियों द्वारा हृदयंगम करने की आवश्यकता है। जैसा कि मैंने (चौधरी 2000: 30) पाठ्यक्रमों के संबोध में एक अन्य प्रसंग में निश्चयपूर्वक तर्क दिया है कि

पाठ्यचर्या से सामान्य रूप से जुड़े पाठ्यक्रम तीन विभिन्न विरासतों से निकले हैं, मूल संस्थापकों की सैद्धांतिक विरासत, मात्रात्मक तकनीकों की शोधपद्धतिमूलक विरासत और यथार्थमय मुद्दों की नागरिक विरासत। वैकल्पिक विरासतों की मौजूदगी चिंता का कारण नहीं है बल्कि चिंता तो इस बात है कि आंतरिक गति-रेखाओं को नहीं समझा जाता है और विश्व-दृष्टि से सिद्धांतों, अवधारणाओं से तकनीकों और सामग्री तक की गतिरेखाओं को समझकर चुने हुए की असंगति पर सवाल नहीं उठाये जाते। यहाँ विवाद का विषय यह नहीं है कि पाठ्यक्रमों को आपस में मिलाया जाए अथवा नहीं। अपितु बौद्धिक परम्पराओं, उनकी सामाजिक अवस्थिति एवं पाठ्यक्रमों में उनको ढाले जाने के बारे में एक समाजशास्त्रीय जागरूकता अवश्य होनी चाहिए।

दूसरे शब्दों में, तीनों इकाइयों में से प्रत्येक का निम्नलिखित पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

- सामान्य बोध से संबंध; वैचारिक स्थिति पर सवाल करना
- वह ऐतिहासिक संदर्भ जिसमें उपागम विशेष जन्मा
- दृष्टिकोण विशेष के कुछ प्रमुख अभिलक्षणों का वर्णन

खंड 3 की प्रत्येक इकाई के इस लंबे परिचय के साथ, हमें आशा यह है कि छात्र-छात्राओं को विषयवस्तु को पढ़ने और उनके 'सोचें और करें' अभ्यासों को पूरा करने में आनंद का अनुभव होगा। आइए, प्रस्तुत खंड की तीनों इकाइयों पर बारी-बारी से एक उड़ती नजर डालें।

इकाई 9: तुलनात्मक पद्धति में समाजशास्त्रियों के लिए इस पद्धति के सशक्त आकर्षण के बारे में है। यह आकर्षण बहुत पुराना है और आज भी यथावत् जगा हुआ है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस पद्धति के क्रमबद्ध प्रयोग ने उन्हें विभिन्न समाजों और संस्कृतियों की प्रचुर समझ पाने में सहायता की है।

इकाई 10: महिलावादी उपागम में सामाजिक शोध का महिलावादी दृष्टिकोण की चर्चा की गई है। हम अपने आसपास की दुनिया को लिंगभेद की नज़र से देखने में मदद करते हैं, इस दृष्टिकोण से हमें सामाजिक पदानुक्रमों एवं व्यवस्थाओं के आर-पार जाकर महिला-पुरुष के बीच सामाजिक भेदभाव के चश्में से अपने चारों ओर की दुनिया को देखने में मदद मिलती है।

इकाई 11: सहभागी विधि ने शिक्षाविषयी सीमाओं के मुद्दे एवं उसकी वैधता पर आज के समय सवाल उठाये जाने की ओर हमारा ध्यान खींचा है। इस अर्थ में, काफी कुछ महिलावादी उपागम की तरह सहभागी विधि में शोध के ज्ञानमीमांसात्मक आधार को पुनर्परिभाषित किया जाना शामिल है।

उपर्युक्त तीन इकाइयों के सहारे, हमारी उम्मीद है कि पुस्तक 1 के छात्र-छात्राओं को अपनी लघु शोध परियोजना हेतु एक भावी शोध विषय एवं शोध पद्धति चुनने की दृष्टि से सोचने के लिए स्वयं को तैयार करने का अवसर मिलेगा।